यादों से रची दिल्ली

विनय श्रीवास्तव

मैं एक समाजशास्त्री हूँ और अर्बन सोस्यॉलजी (urban sociology), यानी जिसे शहर का समाजशास्त्र कह सकते हैं, उसमें मेरी विशेष दिलचस्पी है। उस पर तरह-तरह का लेखन है कि शहर किस तरह से बने, शहरीकरण किस तरह से हुआ, शहर किस तरह से बढ़े और किस तरह से लोग गाँव से शहर पलायन कर रहे हैं। शहर की समस्याएँ क्या हैं? शहर का वास्तुशास्त्र क्या है? शहर के लोग कैसे हैं? लेकिन शहर का प्रभाव एक आदमी के बौद्धिक कार्य पर कितना पड़ता है, उस पर ज़्यादा लिखा नहीं गया है। मिसाल के तौर पर अगर मैं दिल्ली में न रह कर केम्ब्रिज में अपना काम कर रहा होता तो मेरी बौद्धिक गतिविधियों पर क्या फ़र्क़ पड़ता? जो केम्ब्रिज का सामाजिक वातावरण है, जो सांस्कृतिक वातावरण है, सबका क्या प्रभाव पड़ता? या मैं केम्ब्रिज में न होकर अगर बनारस में होता या शिमला में होता, या मुम्बई में होता, तो? इस फ़र्क़ को समझने के लिए हमें थोड़े-बहुत आत्मकथात्मक लेखन की ज़रूरत है जिसमें जो बुद्धिजीवी हैं चाहे वो इतिहास के हों, अर्थशास्त्र के हों, दर्शनशास्त्र के हों, मनोविज्ञान के हों या समाजशास्त्र के, जिस भी विषय से वे आते हैं वे यह देखें कि इस शहर का उन पर क्या प्रभाव पड़ा है? इस शहर ने किस तरीक़े से मेरी सोच को, मेरी समझ को गढ़ा और जिन क्षेत्रों में मेरी रुचि हैं, जिन पर मैं शोध कर रहा हूँ, उनकी समझ को बेहतर बनाया।

मैंने एक बहुत अच्छा लेख पढ़ा था। वो प्रो. एम.एन. श्रीनिवास का है और उनकी किताब *इंडियन सोसायटी थ्रू पर्सनल राइटिंग्स* में छपा है। यह किताब 1996 में छपी जिसमें 36 पृष्ठों का यह लेख भी है। लेख का नाम है — 'बैंगलोर एज़ आई सी इट'। मेरे ख़याल से जो मैं कहने जा रहा हूँ वह उस लेख के एक वाक्य से प्रेरित हैः Bangalore has been a part of my consciousness ever since I can remember. जब श्रीनिवास ने दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़ा तो बैंगलोर जाकर बस गए। उन्होंने अपने बहुत से लेखों में जो उदाहरण दिए उनमें बैंगलोर के ज़्यादा थे और दिल्ली के कम। हालाँकि उन्होंने दिल्ली में समाजशास्त्र विभाग स्थापित किया और इसको सेंटर फ़ॉर एडवांस्ड स्टडीज़ बनाया, पर दिल्ली का उन पर उतना असर नहीं था। और अगर मैं अपने आपको देखूँ तो जिस तरीक़े से बैंगलोर का श्रीनिवास के ऊपर असर रहा उस तरीक़े से दिल्ली का और ख़ासकर पुरानी दिल्ली का असर मुझ पर रहा। मैं दिसम्बर 1952 में दिल्ली में पैदा हुआ नई सड़क की एक गली में जिसका नाम सट्टेवाली गली है। आज शायद लोग उस गली को नहीं जानते, लेकिन कहते हैं कि एक ज़माने में वहाँ सट्टा खेला जाता था और सट्टे के जो नम्बर थे वे लोगों के दरवाज़े पर लिखे जाते थे। बहुत पुरानी बात है। मैंने तो अपनी ज़िंदगी में देखा नहीं है। लेकिन आज भी लोग उसे सट्टेवाली गली के नाम से जानते हैं। उसी सट्टेवाली गली में घुसते ही पहला मकान जहाँ था, वहाँ मैं पैदा हुआ। और उसके बाद मेरी परवरिश हुई हौज़ क़ाज़ी की एक गली में जिसका नाम है 'पीपल महादेव'। पीपल महादेव तो पूरी गली का नाम है, उसमें भी एक छोटी गली है 'गली जोशी वाली' क्योंकि वहाँ पर एक वैद्यजी हुआ करते थे। बिलकुल गली के नुक्कड़ पर उनकी छोटी-सी दुकान हुआ करती थी और वो जोशी जी कहलाते थे। भगवान दास जोशी उनका पूरा नाम था। आज भी मेरा ख़याल है लोग उसको जोशी वाली गली के नाम से ही जानते हैं। कम से कम जो पुराने लोग

हैं वो उसे जानते हैं। तो वहाँ मेरी परवरिश हुई और वहाँ आसपास के स्कूलों में मैं पढ़ा और दिल्ली युनिवर्सिटी में भी पढ़ा और इस पूरी यात्रा में मतलब 1986 या 1987 तक कह लीजिए मैं पुरानी दिल्ली में रहा। उसके बाद हम ग़ाज़ियाबाद चले गए और फिर हम दक्षिणी दिल्ली में आ गए। मेरे तो तक़रीबन चालीस-बयालीस साल पुरानी दिल्ली में गुज़रे। और आज भी हमारा घर है पुरानी दिल्ली में। हम उसमें जाते हैं और घर को साफ़ करा कर रखते हैं। उसी गली में यानी जोशी वाली गली में मेरे नाना का घर आज भी है। नई सड़क वाले घर में जिसमें मैं पैदा हुआ था वह घर भी है और मेरे कुछ ताऊ-चाचा उस घर में रहते हैं। तो इससे मेरा संबंध बना हुआ है। एक समाजशास्त्री होने के नाते हम जब किसी भी फ़ेनॉमेनन को देखते हैं, चाहे वो शहर हो या गाँव, तो एक तुलनात्मक अध्ययन करते हैं कि जो पहले था, क्या वैसा आज है? हम जहाँ कहीं भी जाते हैं चाहे वो इंदौर हो, लखनऊ हो या चंडीगढ़ हो, हम वही तुलनात्मक अध्ययन करते जाते हैं। समाजशास्त्र में हम यह मानते हैं कि हर आदमी तुलनात्मक दृष्टि से देखता है। लेकिन एक समाज वैज्ञानिक की ख़ासियत यह होती है कि वो इस तथ्य से अवगत होता है कि वो तुलना कर रहा है।

आज जब मैं पुरानी दिल्ली जाता हूँ, मुझे वाक़ई विश्वास नहीं होता कि यह वही जगह थी जहाँ मैं बड़ा हुआ, जहाँ मैं रहा, जहाँ की गलियों और बाग़ों में मेरी परवरिश हुई। मैं तहेदिल से यह बात कह रहा हूँ कि आज उस घर के अन्दर जाने के बाद शायद अच्छा लगता है लेकिन बाहर बिलकुल नहीं। कई दफ़े मैं यह सोचता हूँ कि हम यहाँ कैसे रहे? और आज तो वहाँ रहना बिल्कुल नामुमकिन सा लगता है। इतनी ज़्यादा भीड़ है, और उससे ज़्यादा गंदगी है। ऐसा पहले नहीं था।

जब आजकल के माँ-बाप कहते हैं कि बच्चे बहुत उद्दंड हो गए हैं, बहुत माँग करते हैं, अपने माँ-बाप की उँगली पकड़े रहते हैं और बहुत तंग करते हैं तो मैं भी उनसे कहता हूँ कि हमने कभी ऐसा नहीं किया। हमने अपने माँ-बाप को ऐसी तकलीफ़ नहीं दी जैसी आजकल के बच्चे दे रहे हैं। वो जितने डिमांडिंग हैं, इसका क्या कारण है? हो सकता है मैं थोड़ा सा ग़लत होऊँ लेकिन मैंने काफ़ी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह देखा है कि उस ज़माने में हमारा जितना भी सामाजिक जीवन था, वह गलियों में गुज़रता था। मैं अपने पूरे बचपन को सामने रखते हुए बोल रहा हूँ कि हम अपने घर में जाते थे तो सोने के लिए या खाना खाने के लिए। बाक़ी सारा दिन हम गलियों में घूमते रहते थे। मुझे अच्छी तरह से याद है कि घर के शौचालयों का बच्चे इस्तेमाल नहीं करते थे क्योंकि हमें यह डर लगता था कि कहीं हमारा पाँव उसके छेद में न चला जाए। उस ज़माने में फ़्लश लैट्रिंस नहीं हुआ करती थीं। हमसे कहा जाता था कि हम गली की नालियों में बैठें — पेशाब-टॉयलेट के लिए हम उन्हीं का इस्तेमाल करते थे। 'बम्बे' जिसको हैंडपम्प बोलते हैं, पर हम नहाया करते थे गली के नुक्कड़ पे। पीपल महादेव गली में आज भी वो हैंडपम्प है जो उस ज़माने में था और जिस पर हम नहाया करते थे। दो-तीन बच्चे चले आया करते थे, एक चलाता था और दूसरा नहाता था। तो गलियों में ही नहाना, गलियों में ही ब्रश वग़ैरह करना, गलियों में ही खेलना। वहीं पर क्रिकेट और गुल्ली-डंडा। हम बच्चे अपना सारा समय गलियों में गुज़ारा करते थे। गली कल्चर जिसको मैं कहूँगा — गली की अलग संस्कृति। यही नहीं हमारे बुज़ुर्ग यानी हमारे पिता, हमारे दादा, हमारे नाना ये भी काफ़ी हद तक गलियों में बैठा करते थे। गली में ही चारपाई बिछा ली और उस पे चौपड़ खेली जा रही है, शतरंज खेली जा रही है। मुझे याद आ रहा है कि मेरे नाना शतरंज के बहुत बड़े खिलाड़ी, मतलब गली के खिलाड़ी थे। और शतरंज गली के बिलकुल बाहर खेली जाती थी। क्योंकि यह कहा जाता था कि शतरंज को कभी घर के अन्दर नहीं खेलना चाहिए। ताश का उतना रिवाज नहीं था। और ताश को खेलना बहुत ग़लत माना जाता था, ताश के बारे में कहा जाता था कि जो लोग जुआरी हैं वो ताश खेलते हैं। चौपड़ और शतरंज का जुए से कोई संबंध नहीं था। इसीलिए कहा जाता था "शतरंज करे रंज, ताश करे सत्यानाश"। और चौपड़ के बारे में कहा जाता था "मर्यादा को भंग करे मन में लाए कपट, खेल-खेल के चौपड़ हो गऐ पांडव चौपट।" यानी इन्हें घर में नहीं खेलना है।

घर के बाहर चारपाई पर बैठ के लोग खाना खाते थे, घर से खाना मँगाते थे, घर से चाय बन के आती थी और लोग बतियाते रहते थे। बतियाने की जो संस्कृति थी वो गली की थी। जिस तरीक़े से बच्चे गली के बाहर रहते थे उस तरीक़े से बड़े भी सारा दिन घर के बाहर बैठे रहते थे। तो ऐसे सामाजिक जीवन में तो चोरी का

मतलब ही नहीं था जहाँ लोग ख़ुद ही चौकसी कर रहे होते थे। बहुत सारे लोग गली में ही सोया करते थे सिर्फ़ इस वजह से कि घर में घुटन-सी होती थी। उन दिनों लोड शेडिंग नाम की चीज़ नहीं होती थी। घर की औरतें घर में ही रहा करती थीं जिनका एक अलग सामाजिक जीवन हुआ करता था। आसपास की औरतें मिलकर घर के पापड़ बनाया करती थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि आलू को काट कर, उसे सुखा कर, घर में ही चिप्स बना लिए जाते थे। बड़ियाँ — जो बड़ी ख़ास चीज़ है, मूँग की दाल की, चावल की बड़ियाँ वो भी घर में ही मिल कर बनाई जाती थीं। कई दफ़ा छोटे-छोटे बच्चों को जो गली में खेलने लायक़ नहीं होते थे उन्हें छत पर चौकसी करने के लिए इन चीज़ों के पास बिठाया जाता था।

मैं यह नहीं कहूँगा कि ये गली संस्कृति दिल्ली तक ही सीमित थी मैंने जो थोड़ा बहुत आगरा के बारे में पढ़ा है उससे हम इस संस्कृति को 'गली की रिवायत' या गली के रहने-सहने का ढंग भी कह सकते हैं। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि तब गली को बुरा नहीं समझा जाता था। आज जो ये कहा जाता है कि ये तो गली-मुहल्ले के लोग हैं, तब उसे इस अर्थ में नहीं लिया जाता था। ऐसा इसलिए कि तब आज की तरह बेघरबारी नहीं थी। ये बाहर और अन्दर का जो फ़र्क़ है ये अगर आप समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो पहले नहीं होता था। आज बहुत है। आज मैं अपने घर के बाहर निकलूँगा तो बिल्कुल नहा-धो कर, अच्छे कपड़े पहनकर। लेकिन मुझे अच्छी तरह से याद है कि मेरे नाना जो सरकारी मुलाज़िम थे, रिटायर हुए उसके बाद वो कई मर्तबा घर से बाहर सब्ज़ी वग़ैरह लेने जाते थे सिर्फ तहमद पहने हुए। तहमद और नीचे चप्पल और कोई कपड़ा नहीं। और सारा दिन वो गली में बैठे रहते थे। अगर वो खेल रहे हैं, शतरंज या चौपड़ खेल रहे हैं तो भी वो सारा दिन वैसे ही बैठे रहते थे क्योंकि घर और बाहर का वो फ़र्क़ उनके लिए नहीं था। आज यह इतना ज़्यादा है कि घर में आप एक तरह से रहेंगे और बाहर किसी और तरह से। ये जो अंदर-बाहर के खाँचे हैं, वे पुनर्परिभाषित हो गए हैं।

औरतों और मर्दों की ज़िन्दगी एक फैले हुए सामुदायिक जीवन का हिस्सा थी। मेरी माँ आसपास के लोगों के साथ मिलकर रहती थीं। हमारे एक पड़ोसी हुआ करते थे, रावत परिवार। उनके बारे में हमारी नानी ये कहा करती थीं कि वे पत्ते के दोने यानी सकोरे बनाया करते थे। लेकिन बाद में उन्होंने यह काम छोड़ दिया क्योंकि उनके पिता एक वकील के मुंशी हो गए। लेकिन उपनाम रावत ही रखा। हमारी दूसरी तरफ़ एक शर्मा परिवार रहता था। शर्मा जी भी सरकारी मुलाज़िम थे। हमने इन दोनों को कभी न तो रावत परिवार के नाम से जाना, ना तो शर्मा परिवार से। रावत परिवार के मुखिया धर्मप्रकाश जो वकील के मुंशी थे, वो मेरी माँ के भाई बने हुए थे और चूँकि मेरी माँ का कोई भी सगा भाई नहीं था, इसलिए हम उनको मामा माना करते थे। हमने कभी भी धर्मप्रकाश जी को एक दूसरे परिवार का नहीं माना। उसी तरह से शर्मा परिवार था जिसके साथ हमारा ऐसा संबंध था जिसे समाजशास्त्र की भाषा में 'प्यूटेटिव' या 'फ़िक्टिव किनशिप' कहते हैं, जिसमें पड़ोसी से बिल्कुल रिश्तेदार जैसे संबंध होते हैं। वाक़ई पुरानी दिल्ली में कहा जाता था कि आपके सगे रिश्तेदार तो बाद में आएँगे सबसे पहले आपके पड़ोसी आएँगे। तो सबसे पहले आपके पड़ोसी ही आपके पहले रिश्तेदार हैं और कहा जाता था कि अपने पड़ोसियों की इज़्ज़त करें क्योंकि वही आपके सब कुछ हैं। इस सबके साथ जो एक चीज़ जुड़ी थी वो ये कि तब मोबिलिटी बहुत कम थी यानी भौगोलिक मोबिलिटी। मोहल्ला छोड़ के कहीं और जाना, घर को बेच के कहीं और जाना इस तरह की चीज़ बिल्कुल नहीं थी। व्यावसायीकरण उस इलाक़े का नहीं हुआ था। दुकानें बिल्कुल नहीं थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि पीपल महादेव गली के सामने बड़ी ऊँची-सी दीवार थी और उसके पीछे घर थे लेकिन कोई दुकान नहीं थी। आज वहाँ घर-घर में दुकानें बनी हुई हैं, घर-घर के अन्दर बाज़ार बने हुए हैं। पहले ऐसा नहीं था। तो हमारे लिए जो हमारा हाउसहोल्ड था वो हमारा सिर्फ़ घर नहीं बल्कि जहाँ पीपल महादेव गली का बम्बा है वहाँ से लेकर मेरे घर तक सारा एक ही घर था। अन्दर जाकर एक हनुमानजी का मंदिर है। हम हर रोज़ हनुमान जी के मंदिर जाया करते थे और वहाँ पर प्रसाद चढ़ाना, पूजा करना होता था। उस समुदाय का जीवन एक तरह से गाँव का जीवन था। उस तरह के छोटे-छोटे समुदाय वो गली-मुहल्लों में थे; पीपल महादेव में, कूचा दिलवाली सिंह में, हकीम बका में, सीताराम बाज़ार में, और इन सबके बाहर एक चारदीवारी थी। अजमेरी गेट, तुर्कमान गेट, मोरी गेट और उसके बाहर का इलाक़ा जो था, वो वाक़ई बाहरी माना

घर के बाहर चारपाई पर बैठ के लोग खाना खाते थे, घर से खाना मँगाते थे, घर से चाय बन के आती थी और लोग बतियाते रहते थे। बतियाने की जो संस्कृति थी वो गली की थी। जिस तरीक़े से बच्चे गली के बाहर रहते थे उस तरीक़े से बड़े भी सारा दिन घर के बाहर बैठे रहते थे। तो ऐसे सामाजिक जीवन में तो चोरी का मतलब ही नहीं था जहाँ लोग ख़ुद ही चौकसी कर रहे होते थे। बहुत सारे लोग गली में ही सोया करते थे सिर्फ़ इस वजह से कि घर में घुटन-सी होती थी। उन दिनों लोड शेडिंग नाम की चीज़ नहीं होती थी। घर की औरतें घर में ही रहा करती थीं जिनका एक अलग सामाजिक जीवन हुआ करता था। आस-पास की औरतें मिलकर घर के पापड़ बनाया करती थीं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि आलू को काट कर, उसे सुखा कर, घर में ही चिप्स बना लिए जाते थे। बड़ियाँ – जो बड़ी ख़ास चीज़ हैं, मूँग की दाल की, चावल की बड़ियाँ वो भी घर में ही मिल कर बनाई जाती थीं। कई दफ़ा छोटे-छोटे बच्चों को जो गली में खेलने लायक़ नहीं होते थे उन्हें छत पर चौकसी करने के लिए इन चीज़ों के पास बिठाया जाता था।

जाता था। हमसे कहा जाता था कि अजमेरी गेट के बाहर मत जाओ और रात के वक़्त तो बिल्कुल नहीं। हालाँकि दिल्ली कॉलेज उसके ठीक बाहर ही था लेकिन वह शहर के बाहर माना जाता था।

ये 1960 या 1961 की बात होगी। मैं आठ-नौ साल का रहा हूँगा। हमें एक कहानी सुनाई जाती थी जो हमदर्द दवाख़ाने के हकीम साहब से वास्ता रखती है। कहा जाता था कि हकीम साहब रात को सात-आठ बजे के बाद अपने घर चले जाते थे। सब सुनसान हो जाता, मुहल्ले के लोग सब सो जाते थे और कोई बाहर निकलता नहीं था। तो कहते हैं कि एक रात तक़रीबन 12 बजे के क़रीब उनके दरवाज़े पर दस्तक हुई तो वो निकल कर बाहर आए। जो लोग आए, उन्होंने कहा कि साहब एक बच्चा है, जिसके पेट में सख़्त दर्द हो रहा है, आप कोई दवाई दीजिए। तो हकीम साहब ने कहा, दवाई तो मैं बाद में दूँगा पहले मैं उस बच्चे को देखना चाहूँगा। तो उन्होंने कहा, हमें मालूम था कि हकीम साहब आप बच्चे को ज़रूर देखना चाहेंगे, इसी वजह से हम पालकी लेकर आए हैं। उस ज़माने में पालकी चला करती थी और पालकी में लोग आया-जाया करते थे। तो उन लोगों ने कहा हम पालकी लेकर आए हैं, आप बैठिए। तो हकीम साहब पालकी में बैठे और बाहर निकल गए। बाहर बिल्कुल अँधेरा था और कोई देख नहीं पा रहा था कि हकीम साहब कहाँ गए। बच्चे के पास पहुँच कर हकीम साहब ने उसके पेट को दबाया और कहा कि इसका पेट तो बहुत सख़्त है। इसका मतलब इसके पेट में कुछ मल जमा हुआ है। आप चलें तो मैं दवाई दे दूँगा। तो लोग उनके साथ घर आ गए और हकीम साहब ने उन्हें दवाई दे दी। दो घंटे बाद फिर दस्तक दी दरवाज़े पे और कहा हकीम साहब उसके दर्द में कोई कमी नहीं आई है, वो दर्द से परेशान है, आप चलिए, एक दफ़ा फिर उसको देख लीजिए। वो फिर गए और देखा कि बच्चे का पेट फिर भी सख़्त था। उन्होंने पूछा, इसकी कुछ हवा ख़ारिज हुई? हवा-ख़ारिज का मतलब है कि कुछ गैस पास हुई या पेट कुछ हल्का हुआ? वे बोले, साहब कुछ नहीं हुआ। हकीम साहब ने कहा, दवाई का असर नहीं हुआ, ये कैसे हो सकता है? आपने इसको एक ख़ुराक दी, आप इसको दो ख़ुराक देकर देखें। दो घंटे बाद फिर वो लोग आए कि साहब वो बहुत परेशान है उसका पेट फूला हुआ है, वो दर्द के मारे कराह रहा है। हकीम साहब ने कहा अगर दर्द इतना सख़्त है तो चलो एक दफ़ा फिर चल कर मैं देखता हूँ। तीसरी मर्तबा जब वह चलने लगे तो उन्होंने हल्के से पालकी का पर्दा हटाया। उन्होंने देखा कि चारों तरफ़ बिल्कुल अंधकार ही नहीं बल्कि उन्हें लगा जैसे बड़े-बड़े दरख़्त हैं और चारों तरफ़ सुनसान है, तो उन्हें मन में थोड़ा शक़ हुआ कि हम कहाँ जा रहे हैं? जब वो पहुँचे तो उन्होंने देख के कहा पहले आप यह बताइए कि हम हैं कहाँ इस वक़्त? दिल्ली के किस इलाक़े, किस गली में हैं? तो उन्होंने लोगों ने कहा कि हकीम साहब हम दिल्ली के बाहर हैं। हम इस वक़्त एक सुनसान इलाक़े में हैं। और यह उस इलाक़े में हैं जहाँ जंतर-मंतर है उसके पास हैं हम। तो हकीम साहब ने कहा, अरे यहाँ तो कोई आबादी नहीं, यहाँ कोई बस्ती नहीं है, तुम लोग कौन हो? अपना असली रूप, असली शक़्ल मुझे दिखाओ तब मैं इसका इलाज करूँगा। तो उन लोगों ने कहा चलिए हकीम साहब चूँकि आपका हुक्म है, हुक्म की तामील होगी और वो अपने असली रूप में आ गए। एक दम से वो छोटा लड़का इतना बड़ा हो गया कि पूछिए मत। वो सारे लोग दस-ग्यारह फ़ीट लम्बे, चौड़े और भारी हो गए। सबकी शक्लें बदल गयीं। उन्होंने कहा साहब हम लोग जिन्न हैं और ये जिन्नात समुदाय के हैं। दरअसल सच बात ये है कि ये जो बच्चा है ये भैंसा खा गया है और वो हज़्म नहीं हुआ है। तो हकीम जी ने कहा कि चलिए आप हमारे साथ आइए हम आपको सही दवा देंगे। अब हम जो दवाई देंगे वह चुटकी और पुड़ियों में नहीं बल्कि मटकों में होगी। वो इसको पिलानी पड़ेगी क्योंकि यह ख़ुद इतना बड़ा है तो दवाई भी उसी हिसाब से होनी चाहिए। फिर उसका पेट साफ़ हुआ और उन जिन्नात के मुखिया ने कहा कि साहब हमसे कुछ माँगिए। तो हकीम साहब ने कहा कि हमारी आप से गुज़ारिश है कि आप दुबारा हमें तकलीफ़ न दीजिएगा बल्कि किसी भी आदमी को तकलीफ़ न दीजिएगा।

ये कहानी हमें सुनाई जाती थी कुछ संदेश देने के लिए। संदेश ये था कि शहर के अन्दर, शहर के भीतर ये जिन्न नहीं आते। शहर के बाहर होंगे और शहर के बाहर इनकी बस्ती होगी और आप शहर में सुरक्षित हैं। अगर आपको शहर के बाहर जाना है तो दिन में जाइए। रात में न जाइएगा क्योंकि रात में ये जो जिन्न हैं उनकी सवारी निकलती है और उसमें कुछ भी मुमकिन हो सकता है। कहने का मतलब है कि पूरा शहर 'अंदर और

बाहर' में बँटा था। तो एक तरह से उस समय की पुरानी दिल्ली एक बंद व्यवस्था थी। बंद पर हम ज़्यादा ध्यान नहीं देंगे क्योंकि लोगों के रिश्ते बाहर भी होते थे। मैं ये कहूँगा कि पुरानी दिल्ली के जितने भी समाज थे वे 'बाउंडेड कॉंग्रिगेट्स' थे। कहने का मतलब यह कि हम हैं कायस्थ, हमारे पड़ोसी रावत, हमारे दूसरे पड़ोसी ब्राह्मण शर्मा, और हमारे उनसे संबंध थे। हमारी माँ उनके साथ बैठकर बड़ियाँ बनाती थीं, पापड़ बनाए जाते थे और मिलना-जुलना भी था। लेकिन हम रावत परिवार के साथ खाना नहीं खाते थे, न ही वो हमारे साथ खाना खाते थे। हमारे घर के रिश्ते, शादी के रिश्ते, रावत परिवार में नहीं, शर्मा परिवार में भी नहीं थे। हमारे रिश्ते केवल हमारे समुदाय के साथ थे। हमारे आपसी झगड़े हमारी जाति पंचायत निपटाती थी। अगर देखा जाए तो हमारी दो स्तर की एकता थी। एक — हमारे मोहल्ले के साथ जहाँ पर हम एक थे और दूसरी हमारी अपनी जाति और अपनी बिरादरी (kinship) के लोगों के साथ, जिनसे हमारे संबंध थे। दोनों में कोई समस्या नहीं थी। मैं आपको उदाहरण देता हूँ। जैसे मेरे घर में शादी हुई, शादी हो रही है तो मैं सारे रिश्तेदारों को बुलाउँगा, अपनी जाति के जो लोग हैं, जिनसे मेरा संबंध है, मैं उनको बुलाउँगा और साथ में अपने मोहल्ले के लोगों को बुलाउँगा। वो सब आएँगे, लेकिन मेरे मोहल्ले के जो लोग हैं, वो सबसे पहले खाकर चले जाएँगे। मेरे मोहल्ले के जो लोग हर तरह की सहायता मुझे देंगे, लेकिन मोहल्ले से एक ही आदमी आएगा, उनका पूरा-पूरा परिवार नहीं आएगा। आकर वो छोटा-मोटा उपहार, जो उन्हें देना होगा, वो दे जाएँगे। लेकिन जिस वक़्त बारात आने का समय होगा, उस वक़्त वो सब नहीं होंगें। वो ऊपर से देखेंगे। उस वक़्त मेरी जाति के, मेरी बिरादरी के लोग वहाँ होंगे। इस चीज़ को मैंने ख़ुद महसूस किया, जब मेरे चचेरे भाई-बहनों की शादियाँ हुईं या जब मेरे चाचा की शादी हुई। मेरे चाचा की शादी का वक़्त मुझे अच्छी तरह से याद है। 1968 की बात है। गली के सारे लोगों को बुलाया गया था। वे आए और खाना पहले ही प्रारम्भ हो गया था। मतलब बारात जाने से पहले ही खाना शुरू हो गया था और मोहल्ले के लोग खाना खाकर जा रहे थे और जो उन्हें देना था दो रुपये, पाँच रुपये, जो कुछ उनको देना था, दे कर चले गए थे। मुझे अच्छी तरह से याद है उस बारात में मैंने सेहरा पढ़ा था। ये भी पुरानी दिल्ली की शादियों की जो संस्कृति थी उसका एक हिस्सा था। तो मैंने सेहरा पढ़ा, गाकर पढ़ा था क्योंकि मेरी आवाज़ लोग कहते हैं कि सुरीली थी। तो मुझे अच्छी तरह से याद है कि उसमें हमारे रिश्तेदार थे, हमारी जाति के कुछ लोग थे, जिनसे हमारी रिश्तेदारी थी। यानी कि सारा जो समूह था वो रिश्तेदारों का था, दोस्त, पड़ोसी ये सब लोग उसमें नहीं थे। हालाँकि उन सबने बहुत मदद की थी। हर तरह की मदद की थी चाहे पानी भरना हो या कुछ और।

तो ये दो स्तर थे — एक पास-पड़ोस का और दूसरा जाति और बिरादरी का। इस सबके आधार पर मैं ये कहूँगा कि वह मोहल्ला गाँव जैसा था। फ़र्क़ सिर्फ़ यह कि वहाँ पर कोई खेती-बाड़ी नहीं होती थी, बाक़ी हर तरह से एक गाँव की तरह था। और जिस तरीक़े से गाँव में कही गयी बातों का बहुत महत्व होता है वैसा वहाँ भी था। जैसे कोई संदेशा पहुँचाना हो तो जाति विशेष का व्यक्ति संदेशा लेकर जाता था। मिसाल के तौर पर किसी के घर में मृत्यु हो गई तो वो क्या करेगा? तो उस जाति विशेष का व्यक्ति एक गली से दूसरी गली में जाएगा और ऊँची आवाज़ में यह ऐलान करेगा कि फ़लाँ-फ़लाँ व्यक्ति के माता का या पिता का निधन हो गया है। इतने बजे उठाएँगे और फ़लाँ दिन दसवीं होगी और फिर तेरहवीं। चौथे का उतना रिवाज नहीं था। ये चौथा लफ़्ज़ जो है वो पंजाबी समुदाय से ज़्यादा जुड़ा है, हमने कभी नहीं सुना।

मृत्यु और शादी की तुलना करना भी दिलचस्प है। शादियों में उस तरह की घोषणा नहीं होती थी। आप शादी का संदेशा उनको देंगे जिनको आप बुलाना चाहते हैं। ये एक बहुत भारी फ़र्क़ है मृत्यु और विवाह के बीच में। मैंने देखा कि शादी के न्यौते सारे पड़ोसियों को दिए जाते थे चाहे वो उच्च जाति हों चाहें निम्न जाति के। वेडिंग कार्ड का रिवाज तो काफ़ी बाद में आया। शादी के जो निमंत्रण छापे जाते थे वो सिर्फ़ बाहर वालों के लिए होते थे। या उस परिवार में निमंत्रण छापे जाते थे जहाँ पर लड़का सरकारी दफ़्तर में काम करता था। वो अपने विभाग में अपने सहयोगियों को निमंत्रण देता था। और एक चीज़ जो मैंने विवाह के बारे में नोट की थी कि हर परिवार से शादी में एक व्यक्ति ज़रूर जाता था। चाहे वो पूरे समय के लिए रुके या न रुके, लेकिन जाता अवश्य था। और उसे जो उपहार देना होता था उसे वह बिल्कुल खुलेआम देता था। अकसर पैसा ही दिया

जाता था, लिफ़ाफ़े में बंद करके नहीं बिलकुल सामने और लिखवाया जाता था। वो कॉपियाँ आज तक मेरे घर पर हैं। ये बाक़ायदा लिखवाया जाता था कि फ़लाँ के यहाँ से इतना पैसा आया। अगर उसमें किसी ने अपनी सीमा से ज़्यादा पैसा दिया हो तो लोग लेने से इन्कार कर देते थे। ये मेरे ख़याल से मैंने गाँव में भी देखा है। बहुत ही अहम बात है कि आप क्या लेंगे और किससे? क्योंकि लेते वक़्त आपको ये ध्यान रखना है कि ये सब चीज़ें वापस भी करनी होंगी। आज नहीं तो कल। इसको समाजशास्त्र में deferred reciprocity (विलंबित पारस्परिकता) कहते हैं। कि कभी न कभी उसको वापस करना है। किसी की आर्थिक स्थिति सुधर गई हो और कुछ पैसा आ गया हो तो अगर वो ज़रा ज़्यादा दे रहा हो तो लोग कह देते थे कि दिखावा क्यों कर रहे हो? तुम्हारे पिता तो देते थे पाँच रुपये आज तुम इक्यावन दे रहे हो, नहीं भई हम नहीं लेंगे। हम उतना ही लेंगे जितना हम देने के क़ाबिल हैं। जो लोग शादी में आते थे, वो ज़रूरी नहीं है कि पूरे समय के लिए रुकें। कुछ लोग दो घंटे के लिए तो कुछ तीन घंटे के लिए रुकते थे और चले जाते थे। खाना खा कर चले गए या जो कुछ उन्हें नेग देना था देकर चले जाते मगर रुकते नहीं थे। और जो कार्यक्रम होते थे जैसे कि मुंडन, नामकरण-संस्कार, या यज्ञोपवीत तो उसमें सिर्फ़ रिश्तेदार बुलाए जाते थे। उसमें अकसर पड़ोस के लोग नहीं बुलाए जाते थे। तो कहने का मतलब यह हुआ कि जो मृत्यु का संदेश है, वो हरेक को दिया जाता था, चाहे वह निम्न जाति का हो, चाहे उच्च जाति का हो। चाहे पास वाली गली का हो, चाहे दूर वाली गली का हो। संदेशा सबको जाता था। इच्छा हो आए, जिसकी इच्छा हो न आए। और मृत्यु का जो दसवाँ है या तेरहवीं है उसमें किसी को बुलाया नहीं जाता था। जिसकी इच्छा हो आए, जिसकी इच्छा हो न आए। शादी का न्यौता पड़ोसियों और रिश्तेदारों को दिया जाता था। लेकिन विवाह का वेडिंग कार्ड उनको नहीं दिया जाता था, जिनसे आपका बड़ा घनिष्ठ संबंध था। जैसे मुझे अपने भाई को बुलाना है तो उसको शादी का कार्ड नहीं दूँगा क्योंकि वो तो भई मेरे घर का हिस्सा है।

इसके अलावा एक सामाजिक तथ्य यह है कि तब गली-मोहल्लों का नाम जाति या समुदाय के आधार पर होता था। जैसे मालीवाड़ा, नाईवाड़ा, दाईवाड़ा, गली कायस्थान। गली कायस्थान में कायस्थ रहा करते थे। लेकिन जब मैंने गली कायस्थान के बारे में जानकारी प्राप्त की और वहाँ जाना शुरू किया, उस समय मुझे अच्छी तरह से याद है कि ज़्यादा परिवार नहीं रहते थे। अन्य जातियों के और दूसरे समुदायों के परिवार आ गए थे लेकिन गली का नाम कायस्थान था और आज भी यह गली कायस्थान के नाम से जानी जाती है। मालीवाड़ा का ये मतलब नहीं है कि सारे उसमें माली रहते हैं या दाईवाड़ा का ये मतलब नहीं है कि उसमें सारी दाइयाँ रहती हैं या नाईवाड़े में सिर्फ़ नाई रहते हैं ऐसा मतलब नहीं है। फिर कुछ इलाक़े थे जिनका नाम तो जाति के आधार पर

मृत्यु और शादी की तुलना करना भी दिलचस्प है। शादियों में उस तरह की घोषणा नहीं होती थी। आप शादी का संदेशा उनको देंगे जिनको आप बुलाना चाहते हैं। ये एक बहुत भारी फ़र्क़ है मृत्यु और विवाह के बीच में। मैंने देखा कि शादी के न्यौते सारे पड़ोसियों को दिए जाते थे चाहे वो उच्च जाति हों चाहें निम्न जाति के। ...और एक चीज़ जो मैंने विवाह के बारे में नोट की थी कि हर परिवार से शादी में एक व्यक्ति ज़रूर जाता था। चाहे वो पूरे समय के लिए रुके या न रुके, लेकिन जाता अवश्य था। और उसे जो उपहार देना होता था उसे वह बिल्कुल खुलेआम देता था। अकसर पैसा ही दिया जाता था, लिफ़ाफ़े में बंद करके नहीं बिलकुल सामने और लिखवाया जाता था। वो कॉपियाँ आज तक मेरे घर पर हैं। ये बाक़ायदा लिखवाया जाता था कि फ़लाँ के यहाँ से इतना पैसा आया। अगर उसमें किसी ने अपनी सीमा से ज़्यादा पैसा दिया हो तो लोग लेने से इन्कार कर देते थे। ये मेरे ख़याल से मैंने गाँव में भी देखा है। बहुत ही अहम बात है कि आप क्या लेंगे और किससे? क्योंकि लेते वक़्त आपको ये ध्यान रखना है कि ये सब चीज़ें वापस भी करनी होंगी। आज नहीं तो कल। इसको समाजशास्त्र में deferred reciprocity (विलंबित पारस्परिकता) कहते हैं।

नहीं था लेकिन उसमें एक समुदाय के लोग प्रमुख थे। जैसे 'चीराख़ाना'। चीराख़ाना एक बहुत महत्वपूर्ण गली है, जो माथुरों की है। माथुर कायस्थ हैं और कहा जाता है चूँकि वे मथुरा से आए थे इसलिए माथुर बन गए। जैसे मशहूर गायक मुकेश, जिनका पूरा नाम था मुकेश चंद्र माथुर। ये चीराख़ाना आज भी है। अब इसका कुछ पता नहीं है कि ये नाम कैसे पड़ा? किसी ने मुझे बताया था और हो सकता है यह बात ग़लत भी हो, कि वहाँ की ज़मीन में थोड़ा-सा चीरा सा था जिसकी वजह से उसका यह नाम पड़ गया। एक और हस्ती इसी गली से थीं जिनका नाम था शांति देवी। कहा जाता है कि उन्हें अपना पिछला जन्म याद था। वो अपने पिछले जन्म की कहानियाँ सुनाया करती थीं। और बाद में वो इतनी ज़्यादा धार्मिक हो गई थीं, उनमें इतनी दिव्य और अलौकिक शक्तियाँ आ गई थीं कि अगर वो किसी को छू देती थीं तो वह ठीक हो जाता था। वो भी उसी गली की थीं और वो भी माथुर थीं। इसी तरह से धर्मपुरा — चीराख़ाने से ज़रा आगे — जैनियों का मुख्य गढ़ था। इसी तरह से आर्यसमाज गली या सीताराम बाज़ार की और गलियाँ हैं जहाँ पर जैन परिवार थे और आगे थोड़ा सा निकल जाओ तो वहाँ पर तुर्कमान गेट आ जाता है जहाँ मुसलमान रहा करते थे। बल्कि मुसलमानों को भी एक जाति समझा जाता था।

इसे सैद्धांतिक तरीक़े से देखा जाए तो पुरानी दिल्ली एक इकाई के रूप में, जहाँ जैन परिवार रहा करते थे, और कई हिस्सों में भी बँटी, नज़र आती है। उसमें कई सांस्कृतिक खाँचे थे जिनमें आपसी एकता भी थी और अलगाव भी। सामाजिक जीवन को किस तरह चलाना है, उसके नियम स्पष्ट थे। मेरे नाना के पास कुछ जान-पहचान वाले मुसलमान बातचीत करने के लिए आया करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके लिए चाय-पानी जो भी आता था वह कुछ ख़ास गिलासों में आता था। जो मुसलमान आया करते थे — जो उनके दोस्त थे, वो ये कहा करते थे कि लाइए मैं धो देता हूँ गिलास को और मेरे नाना कहते थे कि नहीं, यह बिन्नो कर लेगा। बिन्नो मेरा घर का नाम था। मैं उन गिलासों को धोता था और मेरी नानी पीछे से झाँकती रहती थीं कि ढंग से धोया है या नहीं क्योंकि मैं इन सब नियमों से अनभिज्ञ था। उन्हें डर था कि धोने के बाद कहीं ये लड़का इनको रसोई के गिलासों के साथ जाकर तो नहीं रख देगा। मैंने यहाँ तक नोट किया कि जो रसोई के गिलास थे वो ज़्यादातर स्टील के हुआ करते थे और बाहर वाले गिलास काँच के। इस फ़र्क़ के बारे में सबको पता था। तब एक-दूसरे के घर जाकर साथ खाना (commensality) नाम की चीज़ नहीं थी। यह आज की संस्कृति का हिस्सा है, पुरानी दिल्ली में कभी नहीं होता था। मेरे ख़याल से मैंने कभी भी अपने पड़ोसी के घर खाना नहीं खाया। शादी में या किसी मृत्यु के अवसर पर भोज में खा लिया तो खा लिया। मृत्यु भोज से अकसर लोग कन्नी काटते थे। सिर्फ़ रिश्तेदार खाते थे। शादी में खा लिया तो ठीक है। लेकिन किसी के घर जाना और एक डिनर करना, जिस तरीक़े से आज है कि दोस्त आ रहे हैं, हमारे साथ खा रहे हैं, हम जाकर खा रहे हैं ये सब नहीं होता था। लोग घर से बाहर खाना नहीं खाते थे। इसका मतलब यह नहीं कि होटल नहीं हुआ करते थे। मेरे नाना के बड़े भाई का होटल था। मांसाहारी होटल था जिसका नाम था — न्यू मुंशी होटल। मुंशी इसलिए क्योंकि कायस्थों को मुंशी बोला करते थे। उसमें रोग़न जोश और मीट की तमाम चीज़ें बना करती थीं। लेकिन वह खाना सिर्फ़ उन लोगों के लिए होता था जो शहर की तैरती आबादी थी। तीन चीज़ें मुझे याद आती हैं: पहली बात कि सिर्फ़ मर्द खाते हुए दिखाई देते थे, औरतों का मतलब ही नहीं था। दूसरा यह कि जो आदमी खाते हुए दिखाई देते थे वो हमारे मोहल्ले, हमारे शहर के नहीं होते थे। कोई कचहरी के केस में आया होता था या किसी और काम से या नए बाज़ार में अनाज मंडी आने वाले। तीसरी चीज़ मुझे नज़र आती थी कि सारा लेन-देन पैसे में होता था।

मैं इसकी तुलना जब अपने बचपन से करता हूँ तो पाता हूँ कि पहले ऐसा नहीं था। जैसे हम बनिये की दुकान — मसलन रामअवतार की दुकान है, वहाँ पर गए और कहा कि ढाई सौ ग्राम मीठा तेल दे दो। रामअवतार जी ने ढाई सौ ग्राम तेल दे दिया और हम लेकर आ गए। हम पैसा लेकर नहीं जाते थे, ये मुझे अच्छी तरह से याद है। हम चीनी या इस तरह की छोटी-छोटी चीज़ें लेने जाते थे और कभी भी पैसा लेकर नहीं जाते थे। बस देखा जाता था कि फ़लाँ का लड़का आया है। रामअवतार ने अपनी बही में या अपनी कॉपी में लिख लिया कि ये बृजलाल के घर से आया है और ये सामान लेने आया है। बस, अब फिर पन्द्रह दिन में, हफ़्ते में, दस दिन में जब भी होगा बृजलाल जी जो मेरे नाना हैं उस दुकान से गुज़रेंगे, बैठेंगे उसके पास, कहेंगे, हाँ भई रामअवतार,

पहले तो चाय पिला, थोड़ा पानी पीयेंगे उसके साथ, फिर कहेंगे, दिखा क्या है तेरा हिसाब? फिर उससे थोड़ी बहस होगीः नहीं-नहीं इतना नहीं था थोड़ा-बहुत मोल-भाव होगा फिर पैसे दे के आएँगे। हम ले कर नहीं जाते थे। जबकि होटल में मैं क्या देखता था कि जो आदमी खाना खा रहा है वो फ़ौरन पैसे देकर जा रहा है। होटल में वो लोग खाना खाने जाते थे जो उस शहर के नहीं होते थे। जो लोग उस मोहल्ले के नहीं होते थे या जो वहाँ से गुज़र रहे होते थे वो खाना खाने जाते थे। मतलब यह कि घर के परिवार के लोग नहीं जाया करते थे। मुझे नहीं याद है कि हमने कभी घर के बाहर खाना खाया। हम जब रामलीला मैदान में रामलीला देखने गए या कभी किसी मेले में गए या कभी सर्कस लगा या कहीं गए तो बाहर खाना खा कर नहीं आते थे। भई थोड़ा-बहुत जो है कहीं पर गोल-गप्पे खा लिए या कुछ और खा लिया लेकिन पूरा खाना घर के बाहर नहीं होता था। अगर आप आए हैं, बैठे हैं तो पानी पी लेंगे, आपको चाय पिला देंगे, नींबू पानी पिला देंगे या लस्सी पिला देंगे या घर में पन्ना जो आम का बनता था, या जो भी है, वो आपको पिलाएँगे और आप अपने घर चले जाएंगे। खाना आप घर जा कर खाएंगे। यानी कि एक-दूसरे के साथ खाने का रिवाज नहीं था। समुदाय बिलकुल सीमाबद्ध थे। और खाने पर सिर्फ़ परिवार के लोग होते थे या कभी-कभी रंगपाशी जैसे मौक़ों पर। कायस्थों में रंगपाशी होता है होली के पहले। इसमें हम एक-दूसरे के ऊपर रंग छिड़कते हैं। उसको रंगपाशी बोलते हैं। तो रंगपाशी पे हमारे घर पर थोड़े-बहुत रिश्तेदार आते थे और घर में खाना बनता था या फिर दिवाली पर जिसमें कुछ रिश्तेदार आते थे। अगर शाम को कोई परिवार आ गया, तो आपके घर खाना खा के जाएगा ऐसा नहीं होता था।

अगर कोई परिवार थोड़ा-सा आर्थिक रूप से तरक़्क़ी करने लगता था तो वह ज़्यादा से ज़्यादा दरियागंज, बंगाली मार्केट या गोल मार्केट में अपना घर ले लेता था। यहाँ महत्वपूर्ण ये है कि ऐसे लोग अपना पुराना घर भी रखते थे। बहुत सालों बाद, जब मैंने राजस्थान में फ़ील्ड वर्क किया और जब मैं बगली नाम की जगह पर गया तो वहाँ मैंने देखा कि तमाम घर बंद थे, उन पर ताले लगे हुए थे। मैंने पता किया कि वहाँ जो लोग रहते थे बनिया परिवार के या जैन परिवार के वे कहाँ चले गए? तो लोगों ने कहा कि कोई इलाहाबाद रहता है, कोई अहमदाबाद रहता है, कोई मुंबई रहता है, कोई कोलकाता रहता है, लेकिन सबने अपने घर रखे हुए थे वहाँ पर, ताला लगा कर। साल में नहीं तो दो साल में एक दफ़ा आ गए और आकर उन्होंने उसे साफ़ कराया और रह लिया। तो बिल्कुल उसी तरह का हाल पुरानी दिल्ली में था। घर की देखभाल के लिए एक चौकीदार को रख लिया, घर आए, साफ़ करा गए। जैसे दरियागंज में आप रह रहे हो, हफ़्ते में दो दफ़ा वहाँ आ गए और आसपास के लोगों से मिल लिए। इसकी वजह से आज भी बहुत सारे पुरानी दिल्ली के घर जो हैं, वो मार्केट बनने के बावजूद उन्हीं लोगों के हैं जो लोग वहाँ पर पहले रहा करते थे। उन्होंने अपने घरों में दुकानें बना दी हैं। अब व्यावसायिक इरादे दिखते हैं। तो सवाल ये है कि अब पुरानी दिल्ली में कौन रह रहा है?

अगर नक़्शा बनाया जाए तो साफ़ पता चलेगा कि कहाँ कौन-से समुदाय के लोग बसे हैं। अब ये जो पहले का ढाँचा था वो मेरे ख़याल से काफ़ी स्थिर था। पहले न तो भूगोल और न ही रोज़गार लोगों को ज़्यादा खिसकाता था। बँटवारे के बाद यह तब्दील होना शुरू हुआ। मुसलमान वहाँ से निकल कर गए। मिसाल के तौर पर दरियागंज में एक गली है जिसका नाम है गली दखनीराय। आज भी आप उस गली में घुसें तो कुछ मकानों में उर्दू में लिखा हुआ कुछ दीख जायेगा। जब आप बहुत क़रीब से पढ़ेंगे तो दिखेगा 'अख़्तर मंज़िल'। आप पता करेंगे कि यहाँ अख़्तर मंज़िल में कौन साहब रहते हैं तो पता चलेगा कि अब यहाँ कोई बंसल साहब रहते हैं या मनचन्दा साहब रहते हैं। जब आप तह में जायेंगे तो पता चल जायेगा कि वहाँ कभी मुसलमान रहते थे जो विभाजन के वक़्त उधर चले गए और कुछ लोग इधर आ गये। लोगों का कहना है कि यह सामाजिक संरचना पार्टीशन के वक़्त तब्दील होना शुरू हुई। तब लोग आने शुरू हुए बाहर से और यहाँ से लोग गए। उसमें तमाम वो लोग आ गए जिनके रहने-सहने का ढंग बिल्कुल अलग था। एक बात मैं ये कहना चाहूँगा कि जो पुरानी दिल्ली के — ख़ास पुरानी दिल्ली के — लोग हैं, वो काफ़ी हद तक पंजाबियों से मुतास्सिर नहीं थे। वो सोचते थे कि पंजाबी लोग उनके टेस्ट, उनके स्वभाव के नहीं थे। मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि उनकी उस समुदाय की तरफ़ कोई नफ़रत थी। ऐसी बात नहीं थी। मतलब पुराने लोग ये मानते थे कि पंजाबी उनके जैसे नहीं थे। इसलिए उनसे कम से कम संबंध रखने के पक्ष में थे। पुरानी दिल्ली की कोई लड़की किसी पंजाबी लड़के से शादी करती थी तो उस

पर लोगों को बुरा लगता था। जो लोग बाहर से आये थे उनको लोगों ने अच्छी निगाह से नहीं देखा। उन्हें शक़ की नज़र से देखा। एक बात और थी। ये जो पंजाबी लोग आये इन्होंने आकर बहुत मेहनत की, बहुत काम किया और इसकी वजह से इनकी ग़ज़ब की तरक़्क़ी हुई। लेकिन वहाँ के पुराने लोग वैसे के वैसे ही रहे यानी वो रूढ़िग्रस्त रहे। जैसा उनका तौर तरीक़ा चल रहा था, जो हिसाब-किताब था वैसा ही चलता रहा। लेकिन जो लोग बाहर से आये, उन्होंने बहुत मेहनत की। नये-नये कारोबार शुरू किये।

पुरानी दिल्ली का जो आदमी था वो बाहर जाना ही नहीं चाहता था। एक छोटी-सी बात सुनाता हूँ जो मेरे नाना सुनाते थे। वो घर ख़रीदना चाहते थे। ये शायद मेरे जन्म से पहले की बात है। तो उनके एक दोस्त ने कहा कि बड़ी अच्छी-अच्छी ज़मीनें उपलब्ध हैं, घर भी उपलब्ध हैं। आप चलिये वहाँ देखकर आते हैं। वो सुन्दर नगर के इलाक़े में गए। वहाँ लोगों से उन्होंने पूछा कि यहाँ कौन लोग रहते हैं तो लोगों ने कहा कि यहाँ तो रात में गीदड़ आते हैं। इसलिए यह इलाक़ा सुरक्षित नहीं है। उन्होंने कहा कि चलो हमें यहाँ नहीं रहना और वापस आ गए । अगर वो लोग उस वक़्त वहाँ पर घर लेते तो आज उसकी क़ीमत क्या होती? पहले पुरानी दिल्ली के लोग बाहर निकलना ही नहीं चाहते थे और जब निकले तो इसलिए क्योंकि उनका परिवार बहुत बढ़ गया था। मजबूरन मकान को बड़ा करना पड़ा। लेकिन उनका विकास ऊपर की ओर हुआ, 'वर्टिकल डेवलपमेंट'। जैसे लड़के की शादी हुई तो एक कमरा और ऊपर बनवा दिया लेकिन उसकी भी तो सीमा है। उसके बाद ही परिवारों ने सोचा कि कहीं और जगह ले लेते हैं। यानी कि अगर वो पुरानी दिल्ली छोड़कर गये तो इस वजह से नहीं कि पुरानी दिल्ली गन्दी थी बल्कि इसलिए कि वहाँ गुज़र मुश्किल थी। लेकिन जब एक दफ़ा व्यावसायिक इरादे आ गये तब बात कुछ और बनी। फिर दुकानें बनने लगीं। दुकानें बनने के बाद नये-नये तरह के व्यापार शुरू हो गए।

आज चावड़ी बाज़ार हार्डवेयर का बड़ा मार्केट है, सैनिटरी फ़िटिंग्स का बड़ा मार्केट है। चादँनी चौक कपड़े का बड़ा बाज़ार है। जैसे-जैसे ये स्पेशलाइज़ेशन आने शुरू हुए, एक अहम बदलाव आया वहाँ काम करने वाले मज़दूरों में। उनके लिए पुरानी दिल्ली में जिस लफ़्ज़ का इस्तेमाल होता है वो है 'झल्ली वाले'। आने वाले ज़्यादातर लोग उत्तर प्रदेश और राजस्थान के गाँवों से थे। जब ये लोग आने शुरू हुए तो संरचना बदली। संसाधनों के ऊपर दबाव पड़ने लगा। आज भी पुरानी दिल्ली के लोग कहते है एक ज़माने में सारा दिन पानी आता रहता था अब पानी नहीं आता क्योंकि जनसंख्या बढ़ गयी है। बर्मे सूख गए हैं। अब आप कभी रात को जाकर देखिये पुरानी दिल्ली की गलियों में तो बेइन्तहा लोग सो रहे होते हैं। गलियों में लोग सोते हैं और दुकानों के ऊपर। जो तैरती आबादी है, झल्ली वाले, ठेले वाले, दुकानों पे जो काम करते हैं, दुकानों का सामान उठाने वाले और रंग करने वाले, पॉलिश करने वाले सब वहीं रहते हैं। तांगे वाले बिल्कुल ही ख़त्म हो गये। जगह ही नहीं है। इसलिए अब लोग बाज़ारों की छतों पर सोते हैं। जब हम रात को अपनी गली में जाते हैं तो देखते हैं दुकानों के आगे जो थोड़ी-थोड़ी जगह है, उस पर लोग सो रहे हैं। वहीं दुकानों के आगे सुबह खाना बनाते हैं, ट्रांज़िस्टर चल रहा होगा, गाना बज रहा होगा, स्टोव जल रहा होगा, उस पर रोटियाँ और सब्ज़ियाँ बन रही होंगी। और ये जो लोग हैं, सारे मर्द हैं। चार-चार, पाँच-पाँच के ग्रुप में रहते हैं और उनमें से एक आदमी खाना बनायेगा। मतलब कि हर चीज़ सड़क पर होती है। दुकानों में सिर्फ़ टॉयलेट वग़ैरह बना दिये गए हैं। नहाते बाहर हैं। इन सबसे सामाजिक संरचना बदल गयी है।

1969 में मैं युनिवर्सिटी में आ गया था। तब मैंने ये देखना शुरू किया कि वहाँ पर बाहर के लोग ज़्यादा थे। चार चीज़ें उस वक़्त की मुझे अच्छी तरह से याद हैं। लोग कहा करते थे कि साहब इन लोगों के आने से शहर में जो चोरी-चकारी कभी नहीं होती थी, अब होने लगी, क्योंकि ये लोग बाहर के हैं, इनका कुछ पता नहीं होता। आते हैं और चले जाते हैं। लोगों ने अपने घरों में ताले लगाने शुरू कर दिये और ये बात बिल्कुल सच है कि पहले जब लोग बाहर जाते थे तो पड़ोसी को कह जाते थे कि हम जा रहे हैं, ज़रा देख लेना। ताला लगाने का रिवाज इतना नहीं था। मतलब बाहर के घरों में हो सकता था लेकिन गलियों के घरों में लोग परवाह नहीं करते थे। कुंडा लगा दिया इतना काफ़ी है। क्योंकि न तो लोगों के पास ज़्यादा पैसा होता था और न ही पैसों का दिखावा करते थे। हर आदमी पैसे को दबा के रखता था। एक बड़ा भारी विचार था जिसमें लोग विश्वास करते

थे कि 'नज़र लग जाएगी'। वे कहते थे 'भई आपका पैसा है नज़र लग जायेगी छिपा कर रखो। अच्छे कपड़े मत पहनो, नज़र लग जाएगी।' तो उस समय ये कहते थे कि बाहर के लोगों के आने की वजह से सबसे पहले चोरी-चकारी बढ़ी है। दूसरी बात जो कही जाती थी वो ये कि गंदगी बढ़ गई है। ये लोग कहीं भी थूक देते हैं, कहीं भी बैठ जाते हैं और कहीं भी पेशाब कर देते हैं। तीसरी चीज़ जो इनके आने से हुई कि संसाधनों पर दबाव बढ़ गया। लोग ये भी कहते थे कि इनके आने से पानी ख़त्म हो गया, सारी बिजली ये खा जाते हैं, सारा दिन बर्मा चलाते रहते हैं, तो ठंडा पानी आयेगा कहाँ से? चौथी बात ये कि पुरानी दिल्ली के बाशिंदे उसे छोड़ कर जा रहे थे। बाहर कॉलनियाँ बन रही थीं। लोग वहाँ घर ले रहे थे, जबकि पुरानी दिल्ली में दुकानें बन रही थीं। और इन दुकानों के बनने से, उनमें काम करने वाले लोग भी बढ़ने लगे। जैसे-जैसे ये हुआ दुकानों की क़ीमतें बढ़ीं। लोगों ने अपने घरों को दुकानों में बदलना शुरू कर दिया और देखते-देखते वह इलाक़ा इतना ज़्यादा बदल गया कि लोगों की साँस घुटने लगी। जिनके पास थोड़ा पैसा था वो लोग तो चले गए। भले ही उन्होंने अपनी दुकानें पुरानी दिल्ली में रखीं, लेकिन घर कहीं और ले लिया, ख़ास तौर पर पश्चिम दिल्ली में, जो उस वक़्त लगातार फैल रही थी। फिर डी.डी.ए. ने कॉलनियाँ बनानी शुरू कर दीं: अशोक विहार, लॉरेंस रोड जो 1970 के क़रीब बनी, उसके बाद वसंत कुंज, सरिता विहार, वग़ैरह। फिर लोग धीरे-धीरे निकलते चले गए, निकलते चले गए। अब पुरानी दिल्ली के लोगों ने या तो अपने घरों को बेच दिया, उन पर दुकानें बना दीं, दुकानों को पगड़ी पर दे दिया या उनको किराये पर दे दिया। पर पुरानी दिल्ली में कुछ इलाक़े ऐसे हैं, जहाँ पर नीचे तो दुकानें हैं और ऊपर लोग अभी भी रह रहे हैं। ऊपर घर है तीसरी मंज़िल पर, चौथी मंज़िल पर, नीचे दुकानें हैं। कई बार नीचे भी दुकानें हैं, ऊपर भी दुकानें हैं। ऊपर दफ़्तर या बैंक भी आ गये हैं क्योंकि जहाँ व्यावसायीकरण होगा वहाँ दुकानें तो आयेंगी ही और बैंकों की भी ज़रूरत पड़ेगी।

अब यहाँ पर यह सवाल उठता है कि पुरानी दिल्ली में कौन लोग रहते हैं? इससे पुरानी दिल्ली की संस्कृति के बारे में काफ़ी पता चलेगा। सबसे पहले वहाँ पर वो लोग रह रहे हैं जिनका बिज़नेस है और वो उस जगह को छोड़ना नहीं चाहते। चाहे छोटी-सी दुकान हो या हार्डवेयर का बिज़नेस वो वहीं रहना चाहते हैं। सम्पत्ति उन्होंने कहीं और ख़रीदी हुई है लेकिन वो वहीं रह रहे हैं। वो ये सोचते हैं कि अगर वहीं रहेंगे तो अपने बिज़नेस की अच्छी हिफ़ाज़त कर सकेंगे और उनका समय भी बचेगा। मुझे पता लगा है कि ज़्यादातर जो बनिया परिवार हैं वो अभी भी वहीं हैं। गाड़ी बाहर पार्क करते हैं, वहाँ से रिक्शा लेकर अन्दर आते हैं। असुविधाएँ हैं लेकिन वो वहीं रह रहे है। लेकिन मैं यहाँ पर यह कहना चाहूँगा कि उन्होंने और जगह भी जायदाद ख़रीदी हुई है। उन्होंने डी.डी.ए. के फ़्लैट ख़रीदे हुए हैं, जिन्हें वो अपने बच्चों को दे देते हैं। लेकिन खुद वो वहीं रह रहे हैं। दूसरे वो लोग हैं जो वहाँ पर इसलिए रह रहे हैं क्योंकि उन्हें वहाँ सुरक्षा मिली हुई है। अब यहाँ दरियागंज की एक गली की मैं बात करता हूँ। गली का नाम है दखनीराय। कूचा दखनीराय। वहाँ मेरी सास रहा करती थीं। मैंने वहाँ एक दफ़ा कुछ लोगों से बात की तो पता चला कि काफ़ी लोग वहाँ से अपने घरों को बेच कर जा रहे हैं। तो मैंने उनसे पूछा कि जो घर आप बेच रहे हैं उसे ख़रीद कौन रहा है? पुरानी दिल्ली की जो जायदाद है वो काफ़ी महँगी है तो फिर उसके ख़रीदार कौन हैं? लोगों ने बताया कि साहब ख़रीदने वाले मुसलमान हैं। तो अब सवाल ये आता है कि वो क्यों ख़रीद रहे हैं? जब हमने एकाध मुस्लिम भाई से बात की तो उनका सीधा ये कहना था कि ये मुस्लिम इलाक़ा है, हम यहीं रहते हैं। यहाँ हमें सुरक्षा महसूस होती है। ये एक बड़ा भारी कारण है। तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो कहीं जा ही नहीं सकते, वो कहीं और ज़मीन नहीं ख़रीद सकते। वो कहीं और घर बना ही नहीं सकते। वे छोटे-मोटे धन्धों में हैं। उनके लिए मोबिलिटी बिल्कुल नामुमकिन है, क्योंकि उनके पास पैसा ही नहीं है। इसमें बहुत तरह के लोग आते हैं जैसे सब्ज़ी बेचने वाले, बिजली का काम करने वाले या पान बेचने वाले या छोटे दुकानदार। ऐसे लोग वहीं रह रहे हैं और अभी भी जिन घरों में रह रहे हैं उसका कुछ लोग महीने का 5 रुपये किराया दे रहे हैं। ज़्यादा से ज़्यादा किराया जो मैंने सुना है वो है 53 रुपये, अभी भी 53 रुपये!

चौथी श्रेणी उनकी है जिसे हम कहेंगे 'फ़्लोटिंग पॉपुलेशन'। यानी जो लोग आ रहे हैं और जा रहे हैं, मतलब वो लोग जो सड़कों पे रह रहे हैं और वहाँ पर दुकानों में काम कर रहे हैं। तो इतने सारे समुदाय हैं और हर समुदाय का अपना रिवाज है, अपना रहने-सहने का तरीक़ा है और अपनी ज़बानें हैं, अपनी बोलियाँ हैं। एक

और बात। जब शहरों की बात आती है तो कोई न कोई चीज़ अकसर उनसे जुड़ी हुई होती है। बनारस है तो उसके साथ मृत्यु-मुक्ति जुड़ी है और ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड वहीं बनाया गया। लखनऊ की जब बात आती है तो चिकन का काम उसके साथ जुड़ा हुआ है। तो अब ये सवाल आता है कि क्या कोई ऐसी चीज़ है जिसके साथ दिल्ली जुड़ी हुई है? उस ज़माने की दिल्ली जिसमें मैं बड़ा हुआ, उसमें ऐसी कोई नई बात नहीं थी जिससे उसकी पहचान की जाए। लेकिन उसके बावजूद दिल्ली का अपना एक रंग, एक रूप रहा है। दिल्ली से ज़्यादा कॉस्मोपॉलिटन जगह कोई नहीं है। यहाँ पर कभी भी किसी भी एक संस्कृति का दबदबा नहीं रहा है। ये कभी नहीं होगा और न हुआ था कि इस शहर की एक ज़बान बन जाए या इसका एक धर्म बन जाये या एक राजनीतिक पार्टी निकलकर आ जाये। जो चीज़ें मुम्बई में हो सकती हैं, या कोलकाता में हो सकती हैं यहाँ पर कभी नहीं हो सकतीं। आप पंजाबी बोलिये, आप हिन्दी बोलिये, आप उर्दू बोलिये, आप अंग्रेज़ी बोलिये, आप टूटी ज़बान बोलिये, आप ग़लत ज़बान बोलिये कोई आपको सुधारेगा नहीं। दूसरी चीज़ है, बेइन्तहा आज़ादी ख़ासतौर पर विचारों की। आप उर्दू में लिखिये, अंग्रेज़ी में लिखिये, आप कैसी भी कविता करिये, जो कुछ आप ठीक समझते हैं वो आप करिये।

कई मर्तबा लोग कह देते हैं कि दिल्ली की पहचान शायरी है लेकिन ये ग़लत है क्योंकि ये दिल्ली की पहचान बिल्कुल नहीं है। दिल्ली की जो लिट्ल ट्रेडिशन, जो छोटे समुदाय हैं दिल्ली के, उन्हें मतलब ही नहीं है इससे। उन्हें तो ग़ालिब भी समझ में नहीं आते। ग़ालिब को समझना बहुत मुश्किल है और ग़ालिब की कुछ ही ग़ज़लें हैं जो लोग समझ पाये हैं और जो बार-बार लोगों ने गायीं और जो थोड़ी लोकप्रिय हुईं। ग़ालिब की तमाम ग़ज़लें हैं *दीवान-ए-ग़ालिब* में, जो लोगों को समझ में नहीं आ सकतीं। और ख़ासतौर पर असद नाम से ग़ालिब जो लिखते थे, वो तो बिल्कुल समझ में नहीं आतीं क्योंकि उनमें बहुत ज़्यादा फ़ारसी है। जब *मिर्ज़ा ग़ालिब* फ़िल्म बनी जिसमें मोहम्मद रफ़ी और तलत महमूद ने गाया तब 'दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है, आख़िर इस दर्द की दवा क्या है' जैसी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं। वरना कौन उनको पढ़ता था और कितने लोग ग़ालिब को पढ़कर समझ सकते हैं? आज के दौर में ग़ालिब को उर्दू शायरी का एक उम्दा शायर कहना अलग बात है। ग़ालिब को दिल्ली की संस्कृति का नुमाइंदा कहना एक अलग बात है। ग़ालिब दिल्ली का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ग़ालिब एक साहित्यिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग़ालिब दिल्ली की पहचान नहीं हैं, भले ही बल्लीमारान में रहें हों।

इस वजह से दिल्ली पर बात करने के लिए हमारा नज़रिया मुम्बई या कोलकाता से अलग होना चाहिए। मेरे ख़याल से बिल्कुल अलग होना चाहिए। जब हम दिल्ली का अध्ययन करें तब संस्कृति की तलाश के बजाय हमें अलग-अलग समुदायों को देखना चाहिए और ये कि समुदाय आपस में किस तरह से संबंध बनाते हैं। हमें ये देखना चाहिए कि तुर्कमान गेट में जो समुदाय हैं, उनमें आपस में कैसा संबंध होता है? मेरा ख़याल है कि तमाम लोग जो दिल्ली में पैदा हुए, दिल्ली में बड़े हुए उनको इस चीज़ का एहसास था और उन्होंने इस चीज़ पर लिखा। ये कोई नई बात नहीं है। इसी वजह से उन्होंने अपने-अपने अंदाज़ में कहा कि दिल्ली वाक़ई में टेब्युला रासा है यानी बिल्कुल ख़ाली स्लेट है, मतलब जिसमें आकर कोई भी बस जाये। यहाँ मैं एक-दो साहित्यिक मिसालें तुलना के लिए देना चाहूँगा। कहा गया है कि

> बनारस की सुबह अच्छी
> दोपहर है अच्छी शिमले की
> शाम-ए-अवध का क्या कहिये
> बम्बई की हर रात है अच्छी।

लेकिन दिल्ली के बारे में कहा गया है कि

> दिल्ली की न फ़ज़ा माफ़िक़

जामा-ओ-लिबास है मामूली
सख़्त जाँ, बेवफ़ा लोग यहाँ
दिल्ली की न बात है अच्छी।

चूँकि यहाँ पे कुछ भी नहीं
महरूम है ये हर शै से
जैसी चाहो राह बनाओ
जो राग जँचे उस राग में गाओ
ख़ाली तख़्ती जो चाहो लिखो
दिल्ली की हर ज़ात है अच्छी
न तमद्दुन, न सलीक़ा, न रवायत
न ग़ुलामी-ए-मज़हब, न ग़ुलामी-ए-अदब
हर शख़्स को बनाना अपना आशियाँ
अपना तरीक़ा, अपना कहकशाँ
दिल्ली ने है बख़्शी, आज़ादी-ए-अव्वल
ये शहर है आला, कायनात है अच्छी।

आख़िर में, मेरे नाना की चंद लाइनें जो मेरे ख़याल से 1971 के आसपास लिखी गईं:

क्या लेना मुझे इटावे से
हरदोई से मेरा क्या रिश्ता
कड़क में रहता जिन्से वालिद
मैं बाशिंदा-ए-दिल्ली हूँ
जैसी भी है मेरी है
यहाँ का दाना, यहीं का पानी
हर शाम मेरी सुनहरी है।
क़िस्मत मेरी खुली यहाँ
आम बशर सुल्तान हुआ
जो आया वो गया नहीं
दिल्ली की वो शान हुआ
मेरी तरह ग़र और बशर
क़ल्बे दिल्ली में समाते रहे
क्या होगा तेरा बृज यहाँ
हर तरह के लोग अगर आते रहे
सोने के लिए होंगी सड़कें
चिड़ियों के लिए भी आब नहीं
खाने की क़तारें देखेंगे
दीदों में कोई ख़्वाब नहीं
जमना जो लबे दरियागंज थी
कहीं दूर सिमट जायेगी
जो हरियाली घर में मेरे
सेहरा की गोद में पायेगी
हर तरह दिखेगी नस्ले हव्वा
कोई भी तो क़रीब नहीं
कड़कती धूप और साया नहीं
दोस्त नहीं, रक़ीब नहीं
जद्दोजहद फ़ितरत होगी
पैसे में लिपटते पीर होंगे
ग़रीबों में ग़रीब होंगे
अमीरों में अमीर होंगे
इक्के दुक्के के पास है गाड़ी
कल गाड़ी ज़्यादा, लोग कम होंगे
देने वालों की मोहताजी होगी
लूटने वाले हर दम होंगे
कौन सोचेगा दिल्ली ऐसी थी
हुजूम, भूख, दम घुटता है
फिर भी इससे उंसियत है
जो भी दिल्ली में रहता है
चोरों के क़िस्से नहीं पता
नहीं ज़रूरत तालों की
अपनी हिम्मत से बनायेंगे
दिल्ली है दिलवालों की
जान-ए-सुख़न, जान-ए-वतन
दिल्ली मेरे दिल में बसती है
दिल्ली में तो कुछ भी नहीं
फिर भी ये मेरी हस्ती है।

रविकांत से बातचीत पर आधारित